दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक बारहवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

फाल्गुन
२४८०

ज्ञानस्वरूप आत्मा

- आत्मा ज्ञानस्वरूप है।
- ज्ञानस्वरूप आत्मा है, इसलिये पर की क्रिया है—ऐसा नहीं है।
- ज्ञानस्वरूप आत्मा है, इसलिये विकार है—ऐसा भी नहीं है।
- ज्ञानस्वभाव को पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।
- और ज्ञानस्वभाव को विकार के साथ भी कर्ताकर्मपना नहीं है।
- ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना, वह धर्म है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१०८

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

पूज्य गुरुदेव सौराष्ट्र की राजधानी में

अनेक मंगल-प्रसंगों के निमित्त से सौराष्ट्र में विहार करते-करते पूज्य गुरुदेव माघ कृष्णा १३ के दिन सौराष्ट्र की राजधानी राजकोट में पधारे थे। राजकोट के भक्तजनों ने उल्लासपूर्वक पूज्य गुरुदेव का भव्य स्वागत किया था। इस प्रसंग पर प्रवचन के लिये एक सुशोभित मंडप की रचना की गई थी और जिनमंदिर को सजाया गया था। राजकोट का जिनमंदिर अति भव्य है और उसमें विराजमान जिनबिम्ब अत्यन्त भाववाही हैं। राजकोट में पूज्य गुरुदेव पाँच दिन ठहरे थे; उस अरसे में उच्च शिक्षित लोग भी अच्छी संख्या में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन का लाभ लेने आते थे। सौराष्ट्र के मुख्यमन्त्री श्री उछरंगराय ढेबर ने भी पूज्य गुरुदेव के प्रवचन तथा चर्चा का लाभ लिया था। राजकोट में एक दिन श्री जिनेन्द्रभगवान की रथयात्रा का जलूस निकला था। माघ शुक्ला ३ के दिन विहार करने से पूर्व पूज्य गुरुदेव प्रातःकाल जब भगवान के दर्शन करने पधारे, उस समय उस उपशांत जिनमुद्रा को एकटक देखते ही रहे.... फिर अंतर में भक्ति का अतिरेक आने से एक भक्तिभावमय स्तवन कराया था।

आत्मधर्म

फाल्गुन : २४८० ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक बारहवाँ

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है ?

लेखांक १४] [गतांक से आगे

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

(२३) अशून्यनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य अशून्यनय से, मनुष्यों से भरे हुए जहाज की भाँति, मिलित भासित होता है। आत्मा के ज्ञान में सभी ज्ञेय भासित होते हैं, इसलिये मानों ज्ञानरूपी जहाज में सारा लोकालोक भरा हो—ऐसा आत्मा भरा हुआ दिखाई देता है। देखो तो वन-जंगल में आत्मा के अनुभव में झूलते हुए संतों ने चैतन्य की कैसी अद्भुत महिमा गाई है। शून्यनय से आत्मा को परपदार्थों से खाली कहा, इसलिये कहीं उसकी महिमा कम नहीं हो जाती, वह बतलाने के लिये अशून्यनय से कहा कि आत्मा के ज्ञान में मानों लोकालोक भरे हों—ऐसा उसका अचिंत्य ज्ञानसामर्थ्य है। पर को जानने के लिये आत्मा को परसन्मुख नहीं देखना पड़ता, परन्तु ज्ञान में एकाग्र होने से स्वयं ही समस्त ज्ञेयों से भर जाता है अर्थात् समस्त ज्ञेयों को जान लेता है। वास्तव में कहीं ज्ञेय ज्ञान में नहीं आ जाते, परन्तु ज्ञान में वे सब ज्ञात होते हैं, उस अपेक्षा से ज्ञान को मिलित कहा है।

समुद्र में तैरता हुआ जहाज उसमें बैठे हुए मनुष्यों से भरा है, परन्तु किनारे पर खड़े हुए मनुष्यों से वही नहीं भरा है; उसीप्रकार आत्मा अपने में विद्यमान अनंत धर्मों से भरपूर है किन्तु

बाह्य परपदार्थों से वह भरा हुआ नहीं है। असंख्यप्रदेशी भगवान आत्मा लोक में तैरता हुआ जहाज है, वह प्रदेश-प्रदेश में अनंतगुणों से ठसाठस भरा हुआ है; पर से खाली है परन्तु पर के ज्ञान से भरा हुआ है। ज्ञान तो अपना है; परन्तु ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव में लोकालोक के समस्त पदार्थ ज्ञात होते हैं; इसलिये मानों आत्मा उन ज्ञेयों के साथ एकमेक हो गया हो—इसप्रकार ऊपर से मिलित कहा है। वास्तव में कहीं परज्ञेय आत्मा में भरे हुए नहीं हैं; आत्मा तो अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से भरा हुआ है। जिसप्रकार मनुष्यों से भरा हुआ जहाज स्वयं तैरता हुआ चला जाता है; उसीप्रकार अपने गुण-पर्याय से भरा हुआ आत्मा परिणमित होता रहता है और जो जीव ऐसे आत्मा का आश्रय ले, वह जीव संसार-समुद्र से पार हो जाता है। जो जीव अंतर्मुख होकर अपने आत्मा की साधना करता है, ऐसे साधक जीव के नयों का यह वर्णन है; यह नय अंतर्मुख देखते हैं। आगे यह बात भारपूर्वक कही जा चुकी है कि किसी भी नय से आत्मा को लक्ष में लेनेवाले की दृष्टि अंतर में शुद्ध आत्मा पर ही पड़ी है; क्योंकि यह धर्म किसी निमित्त के आश्रय से, राग के आश्रय से, या क्षणिक पर्याय के आश्रय से स्थित नहीं है; और न एक-एक धर्म पृथक् स्थित है, परन्तु अखण्ड आत्मद्रव्य के आश्रय से ही समस्त धर्म स्थित हैं, इसलिये उस अखण्ड आत्मा की दृष्टिपूर्वक ही उसके धर्मों का यथार्थ स्वीकार किया है।

जिसप्रकार जहाज में मनुष्य भरे हों, वहाँ वह जहाज भरा हुआ दिखाई देता है; उसीप्रकार आत्मा के ज्ञान में अनंत ज्ञेय ज्ञात होने से आत्मा भी भरा हुआ दिखाई देता है; परपदार्थों का ज्ञान भी आत्मा में नहीं है—ऐसा नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव से परवस्तु को भी आत्मा जानता है, इसलिये अनंत ज्ञेयों के ज्ञान से वह भरा हुआ है; ऐसे ज्ञानसामर्थ्य के कारण समस्त ज्ञेय मानों ज्ञान में आ गये हों... ज्ञान में उतर गये हों... ज्ञान में डूब गये हों... इसप्रकार ज्ञान भरा हुआ मालूम होता है। जिसप्रकार स्वच्छ दर्पण में रंगबिरंगे पदार्थों के झलकने से दर्पण उनसे भरा हुआ मालूम होता है, उसीप्रकार आत्मा के स्वच्छ ज्ञान में समस्त ज्ञेय ज्ञात होने से आत्मा भी सर्वज्ञेयों से भरा हुआ मालूम होता है। ज्ञान में एकाग्र होने से अपने ज्ञान में सब ज्ञात हो जाता है। कोई पूछे कि—भगवान को कहाँ ढूँढ़ें ? तो कहते हैं कि अपने ज्ञान में! अनंत तीर्थंकर-सिद्ध और संतों को बाह्य में ढूँढ़ने के लिये नहीं जाना पड़ता, अपने ज्ञान में वे सब ज्ञात होते हैं, इसलिये वे सब ज्ञान में ही विराजमान हों—ऐसा ज्ञात होता है। इसलिये तू अपने ज्ञान सन्मुख देखकर ज्ञान सामर्थ्य की प्रतीति कर। अनंत सिद्ध भगवन्त, केवली भगवन्त और धर्म-अधर्म-आकाश-काल तथा अनंत पुद्गलादि-सबके

ज्ञान से आत्मा भरपूर है; ऐसे आत्मा को पहिचानकर उसकी दृष्टि करे तो स्वाधीनदृष्टि और सम्यग्ज्ञान होता है।

जिसप्रकार लैंडीपीपर में चौंसठपुटी चरपराहट प्रगट होने का स्वभाव है, उसी में से वह प्रगट होती है, उसीप्रकार मैं अपनी केवलज्ञानादि जो पर्याय प्रगट करना चाहता हूँ, उसका सामर्थ्य मेरे स्वभाव में भरा हुआ है; वर्तमान पर्याय विकार में अटकती है तथा मेरा आत्मा पूर्ण शक्ति से भरपूर है, उसी में से पूर्णता आती है, कहीं बाहर से नहीं आती। इसप्रकार साधक जीव अपने स्वभाव सामर्थ्य को जानते हैं; इसलिये किसी बाह्य अवलम्बन से मेरी पर्याय में विकास होगा—ऐसा वे नहीं मानते; जितना अपनी अंतरशक्ति का अवलम्बन लूँगा, उतना ही विकास मेरी पर्याय में होगा। मेरी पर्याय वर्तमान में अल्प है, और उसे पूर्ण करना है, तो वह पूर्ण पर्याय कहाँ से आयेगी ?—आत्मा का ध्रुवस्वभाव पूर्णता से भरपूर है, उसी में से पूर्ण पर्याय प्रगट होगी। निमित्तों से तो आत्मा खाली है, इसलिये निमित्तों के संग से पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होगी, और वर्तमान पर्याय स्वयं अल्प है, उसमें से भी पूर्णपर्याय नहीं आ सकती; जो पूर्ण सामर्थ्य से सदैव भरपूर है—ऐसे स्वभाव में एकाग्रता से ही पूर्ण पर्याय प्रगट हो जायेगी। आत्मा स्वयं पूर्ण सामर्थ्य से परिपूर्ण है, तब फिर पर का आश्रय लेने की आवश्यकता ही कहाँ रही ? और पर से तो आत्मा खाली है, इसलिये पर का आश्रय लेना कहाँ रहा ?—इसप्रकार आत्मा के धर्मों की प्रतीति करने से स्वाश्रय ही आता है, और स्वभाव के आश्रय से पर्याय निर्मल होती जाती है।

देखो, आचार्य भगवान ने आत्मा की कैसी सरस और मीठी बात कही है ! यह बात सुनते हुए अपने अंतर में उसका रस आना चाहिए तथा अपूर्वता भासित होना चाहिए। अंतर में आत्मा का रस लाकर जो यह बात समझेगा, उसका अपूर्व कल्याण होगा।

[यहाँ २३ वें अशून्यनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।]

सम्यक्त्व-सन्मुख जीव की

पात्रता का वर्णन

सम्यग्दर्शन के सन्मुख हुए जीव की पात्रता कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। जो अभी सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं हुआ है, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिये तत्त्वनिर्णय आदि का उद्यम करता है—ऐसे जीव की यह बात है। जिसे आत्मा का हित करने की भावना हुई है, सम्यग्दर्शन प्रगट करके आत्मा का कल्याण करने की लालसा जागृत हुई है, ऐसे जीव को प्रथम तो कषाय की मंदता हुई है, तत्त्वनिर्णय करने जितनी ज्ञान की शक्ति का विकास हुआ है, निमित्तरूप से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र मिले हैं और स्वयं को उनकी प्रतीति हुई है; ज्ञानी के निकट उपदेश मिला है और स्वयं अपने प्रयोजन के हेतु मोक्षमार्ग आदि का उपदेश सुना है; कौन से भाव आत्मा को हितकारी हैं और कौन से भाव अहितकारी हैं; सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप क्या है और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र कैसे हैं ? जीवादि नवतत्त्वों का स्वरूप क्या है ? द्रव्य-गुण-पर्याय क्या, उपादान-निमित्त का स्वरूप क्या, मोक्षमार्ग का सच्चा स्वरूप क्या,—इत्यादि प्रयोजनभूत विषयों का उपदेश गुरुगम से मिला है और स्वयं अंतर में उनका निर्णय करके समझने का प्रयत्न करता है; उन्हें समझकर स्वयं अपना ही प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है। उपदेश की धारणा करके मैं दूसरों को सुनाऊँ या दूसरों को समझा दूँ—ऐसे आशय से नहीं सुनता, परन्तु अपना कल्याण करने की ही भावना है।

देखो, यह तो अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व की पात्रता बतलाते हैं। जो अपना कल्याण करना चाहता है, उसे मन्दकषाय और ज्ञान का विकास तो होता ही है; तदुपरांत, प्रथम तो ज्ञानी के पास से सच्चा उपदेश मिलना चाहिए—अज्ञानी-कुगुरुओं के उपदेश से यथार्थ निर्णय नहीं होता। जिसके कुदेव-कुगुरु तो छूट गये हैं, निमित्तरूप से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र मिल गये हैं और कषाय की मन्दतापूर्वक तत्त्वनिर्णय का उद्यम करता है—ऐसे जीव की यह बात है। देखो, इसमें क्या करने को कहा है ?—तत्त्व-निर्णय का उद्यम करने को कहा है। जो कुदेव-कुगुरु को मानते हैं; सर्वज्ञ को आहार मानते हैं, मुनियों को वस्त्र मानते हैं; व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग होना मानते हैं—ऐसे जीव तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं, उनमें तो सम्यक्त्व होने की पात्रता भी नहीं है। जैनधर्म का जो मूल

है—ऐसे सर्वज्ञ को भी जो न जाने वह तो गृहीत-मिथ्यादृष्टि है, ऐसे जीवों की यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो जो जीव सर्वज्ञ को पहिचानकर मानता है, सच्चे देव-गुरु को मानता है और उनके कहे हुए यथार्थ तत्त्वों का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उद्यम करता है—ऐसे जीव की बात है। देखो, उस सम्यक्त्व-सन्मुख जीव में कैसी-कैसी पात्रता होती है, वह बतलाते हैं:—

(१) प्रथम तो उसकी कषाय मंद हो गई है; आत्मा का हित करने की जिज्ञासा हुई, वहाँ मंदकषाय हो ही जाती है; तीव्र विषय-कषाय में डूबे हुए जीव को तो आत्मा के हित का विचार भी नहीं आता।

(२) मंदकषाय से ज्ञानावरणादि का ऐसा क्षयोपशम हुआ है कि तत्त्व का विचार और निर्णय करने जितनी ज्ञान की शक्ति प्रगट हो गई है। देखो, तत्त्व-निर्णय करने जितनी बुद्धि तो है, परन्तु जिसे आत्मा की दरकार नहीं है, वह जीव तत्त्व-निर्णय में अपनी बुद्धि को नहीं लगाता, किन्तु बाह्य विषय-कषाय में ही बुद्धि लगाता है।

(३) जो सम्यक्त्वसन्मुख है, उस जीव को मोह की मंदता हुई है; इसलिये वह तत्त्वविचार में उद्यमी हुआ है; दर्शनमोह की मन्दता हुई है और चारित्रमोह में भी कषायों की मन्दता हुई है; अपने भाव में मिथ्यात्वादि का रस बहुत मन्द हो गया है और तत्त्व के निर्णय की ओर उन्मुखता है। सांसारिक कार्यों की लोलुपता कम करके आत्मा का विचार करने में उद्यमी हुआ है। सांसारिक कार्यों से अवकाश ले (-उनकी रुचि कम करे), तब आत्मा का विचार करे न! जो संसार की तीव्र लोलुपता में पड़ा हो, उसे आत्मा का विचार कहाँ से आयेगा? जिसके हृदय में से संसार का रस उड़ गया है और जो आत्मा के विचारों का उद्यम करता है कि —'अरे! मुझे तो अपने आत्मा का सुधारना है, दुनिया तो ज्यों की त्यों चलती रहेगी; दुनिया की चिन्ता छोड़कर मुझे तो अपना हित करना है'—ऐसे जीव यह बात है।

(४) उस जीव को बाह्य निमित्तरूप से सच्चे देव-गुरु-शास्त्रादि की प्राप्ति हुई है; उसके कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता छूट गई है और सर्वज्ञवीतरागदेव को ही मानता है। अरिहंत भगवान की वीतरागी प्रतिमा भी देव है। शास्त्र में नव देव पूज्य कहे हैं:—पंचपरमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनचैत्य और जिनबिम्ब-यह नौ देवरूप से पूज्य हैं। सर्वज्ञवीतरागदेव को पहिचाने और दिगम्बर संत-भावलिंगी मुनि मिले, वे गुरु हैं; तथा कोई ज्ञानी सत्पुरुष निमित्तरूप से मिलें, वे भी ज्ञान-गुरु हैं। पात्र जीव को ज्ञानी का उपदेश ही निमित्तरूप से होता है। नरकादि गतियों में मुनि

आदि का साक्षात् निमित्त नहीं है, परन्तु पूर्वकाल में ज्ञानी की देशना प्राप्त हुई है, उसके संस्कार वहाँ निमित्त होते हैं। देव-गुरु के बिना अकेले शास्त्र सम्यक्-दर्शन का निमित्त नहीं हो सकते; इसलिये कहा है कि सम्यक्त्व-सन्मुख जीव को कुदेवादि की परंपरा छोड़कर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की परंपरा प्राप्त हुई है।

(५) और उस जीव को सत्य उपदेश का लाभ मिला है। ऐसे निमित्तों का संयोग मिलना वह तो पूर्व के पुण्य का फल है, और सत्य तत्त्व के निर्णय का उद्यम-वह अपना वर्तमान पुरुषार्थ है। पात्र जीव को निमित्त कैसे होते हैं, वह भी बतलाते हैं कि—निमित्तरूप से सत्य-उपदेश मिलना चाहिए। यथार्थ मोक्षमार्ग क्या, नवतत्त्वों का स्वरूप क्या, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं, स्व-पर, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, सम्यग्दर्शनादि हितकारी भाव तथा मिथ्यात्वादिक अहितकारी भाव—इन सब का उपदेश यथार्थ मिला है। उपदेश मिलना तो पुण्य का फल है, परन्तु वह उपदेश सुनकर तत्त्व का निर्णय करने की जिम्मेवारी अपनी है—यह बात अब कहते हैं।

(६) ज्ञानी के पास से सत्यतत्त्व का उपदेश मिलने के पश्चात् स्वयं सावधान होकर उसका विचार करता है; जैसा-तैसा ऊपर-ऊपर से सुन नहीं लेता परन्तु बराबर ध्यानपूर्वक सुनकर सावधानरूप से उसका विचार करता है। और उपदेश सुनते हुए बहुमान आता है कि—अहो! मुझे इस बात की तो खबर ही नहीं है; ऐसी बात तो मैंने पहले कभी सुनी ही नहीं है। देखो, यह जिज्ञासु जीव की योग्यता! उसे जगत की दरकार नहीं है; दूसरे बहुत से जीवों को समझा दूँ या दूसरों का कल्याण कर दूँ—ऐसे विचारों में वह नहीं अटकता, किन्तु मेरे आत्मा का हित किस प्रकार हो—इसी की उसे लगन लगी है। इस जीव के शुभराग के कारण कहीं परजीवों का हित नहीं हो जाता, परजीवों का हित-अहित होना उनके अपने परिणाम के आधीन है; इसलिये मैं जगत के जीवों का उपकार करूँ या देश का उद्धार कर दूँ—ऐसा वह नहीं मानता; वह तो अपने आत्मा के प्रयोजन का ही विचार करता है और सावधान होकर अंतर में मोक्षमार्ग तथा जीवादितत्त्व—इत्यादि का विचार करता है। जिसे अपने आत्मा का हित करना हो, वह जगत का देखने के लिये नहीं रुकता। बाह्य में अनेक ग्रामों में जिनमन्दिरों की रचना हो और अनेक जीव धर्म प्राप्त करें तो मेरा कल्याण हो जाए—ऐसा विचार करके यदि बाह्य में ही रुका रहे तो आत्मा की ओर कब देखेगा? अरे भाई! तू अपने आत्मा में ऐसा मन्दिर बना कि जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी भगवान आकर विराजमान हो जाएँ! भक्ति-प्रभावनादि का शुभराग आये, वह अलग बात है, परन्तु पात्र

जीव उस राग पर भार न देकर आत्मा के निर्णय का उद्यम करता है। अहो! ऐसे तत्त्व की मुझे अभी तक खबर नहीं थी; मैंने भ्रम से रागादि को ही धर्म माना था और शरीर को ही अपना स्वरूप मानकर उसमें तन्मय हो रहा था, शरीर की क्रिया से धर्म मान रहा था, लेकिन यह शरीर तो जड़-अचेतन है और मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ; इस शरीर का संयोग तो अल्पकाल के लिये ही है; यह मनुष्यभव कहीं स्थायी रहनेवाला नहीं है; यहाँ मुझे हित के सर्व निमित्त प्राप्त हुए हैं, इसलिये मुझे मोक्षमार्गादि का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।—ऐसा विचार कर तत्त्व-निर्णय का उद्यम करता है।

देखो, यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की तैयारी वाले जीव की पात्रता है! सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व ही ऐसा निर्णय करता है कि मैं आत्मा अनादि-अनन्त हूँ और इस शरीर की स्थिति तो अल्पकाल की ही है; इसलिये तत्त्वनिर्णय करके मुझे अपने आत्महित का प्रयोजन साध लेना चाहिए। अरे! अल्पकाल का जीवन है, उसमें आत्मा का ही करने जैसा है;—ऐसा विचार करके सांसारिक कार्यों में से रस कम करके चेतन के निर्णय का उद्यम करता है। उसी में अपना हित भासित हुआ है, इसलिये वह कार्य करने में प्रीति और हर्षपूर्वक उद्यम करता है। इसप्रकार उसे अपना कार्य करने का अत्यन्त उल्लास है; इसलिये जो उपदेश सुने, उसका विचार करके निर्धार करने का निरन्तर उद्यम करता है। दुनिया को सुधार दूँ और देश का उद्धार कर दूँ—ऐसे विचारों में नहीं रुकता, परन्तु मैं तत्त्व को समझकर अपना उद्धार कर लूँ—ऐसा विचार कर तत्त्व-निर्णय का उद्यम करता है।—''काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग।''

(७) तत्त्वनिर्णय करने के लिये प्रथम तो तत्त्वों के नाम और लक्षण जान लेता है और स्वयं परीक्षा द्वारा विवेक करके तत्त्व के भावों को जानकर निर्णय करता है। अज्ञानियों के विरुद्ध उपदेश को तो मानता ही नहीं, परन्तु ज्ञानी के पास से जो यथार्थ उपदेश मिला है, उसका भी स्वयं उद्यम करके निर्णय करता है; बिना विचारे नहीं मान लेता, किन्तु अपने विचार को साथ मिलाकर तुलना करता है। ज्ञानी के पास से सुन लिया, किन्तु फिर—''यह किसप्रकार है''—इसप्रकार स्वयं उनके भाव को पहिचानकर निर्णय न करे तो सत्य प्रतीति नहीं होती। इसलिये कहा है कि ज्ञानी के पास से तत्त्व का जो उपदेश सुना, उसे धारण कर रखता है और फिर एकान्त में विचार करके स्वयं उसका निर्णय करता है। जो उपदेश सुनने में ही ध्यान न रखे और उस समय अन्य सांसारिक विचारों में लग जाए तो उसे तत्त्वनिर्णय की दरकार ही नहीं है। क्या कहा है, उसकी धारणा भी न करे तो फिर विचार करके अंतर में निर्णय कैसे करेगा? जिसप्रकार गाय खाने के समय खा लेती है, और फिर

बाद में आराम से बैठकर जुगाली करके पचाती है; उसीप्रकार जिज्ञासु जीव जैसा उपदेश सुने, वैसा बराबर याद कर लेता है और फिर एकान्त में विवेकपूर्वक विचार करके उसका निर्णय करता है और अंतर में परिणमित करने का प्रयत्न करता है। यथार्थ उपदेश का श्रवण करना, याद रखना, विचार करना और उसका निर्णय करना—ऐसी चार बातें रखी हैं। तत्त्वनिर्णय की शक्ति अपने में होना चाहिए। इस जीव को इतना ज्ञान का विकास तो हुआ है परन्तु उस ज्ञान को तत्त्व का निर्णय करने में लगाना चाहिए। सुनने के पश्चात् स्वयं अकेला अपने उपयोग में विचार करे कि श्रीगुरु ने ऐसा कहा, वह किसप्रकार है ?—इसप्रकार उपदेशानुसार स्वयं निर्णय करने का प्रयत्न करता है। मात्र सुनता और पढ़ता ही रहे परन्तु स्वयं कुछ भी विचार करके तत्त्वनिर्णय केंअपनी शक्ति न लगाए, तो उसे यथार्थ प्रतीति का लाभ नहीं होता। ''मैं ज्ञानानंद आत्मा हूँ; अपने आश्रय से ही मेरा हित है, अपने अतिरिक्त पर का अवलम्बन करने से रागादिक भाव होते हैं, उनमें मेरा हित नहीं है''— इसप्रकार तत्त्व के भाव का भासन होना चाहिए, तभी यथार्थ तत्त्व श्रद्धान होता है। ऐसा तत्त्वश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

[अपूर्ण]

प्रभु! विरोध न कर....

मैं पर से भिन्न, साक्षात् चैतन्यज्योति, अनंत आनंद की मूर्ति हूँ—ऐसा समझे बिना जितने शुभराग करे, वे सब मुक्ति के लिये व्यर्थ हैं। ऐसा सुनकर कोई अज्ञानी विरोध करते हैं कि अरे रे! हमारा सब धर्म का नाश हो जाता है! परन्तु प्रभु! विरोध न कर... अस्वीकार मत कर... यह तो तुझे तेरी प्रभुता समझाई जा रही है। तेरा अनंत महिमावान स्वभाव हम तुझे समझा रहे हैं, और तू उसका विरोध करके असत्य का आदर करे—यह तुझे शोभा नहीं देगा।

शांतिनाथ भगवान का वैराग्य

[धन्य वह मुनिदशा.... धन्य वह अवतार]

(शांतिनाथ भगवान के दीक्षा-कल्याणक-महोत्सव के प्रसंग पर
दीक्षावन में पूज्य स्वामीजी का प्रवचन)

[वीर सं २४७५ ज्येष्ठ शुक्ला ४]

चक्रवर्ती शांतिनाथ भगवान का आत्मभान

शांतिनाथ भगवान उसी भव में चक्रवर्ती, कामदेव और तीर्थंकर—ऐसी तीन महान पदवियों के धारक थे। बहत्तर हजार नगर, चौरासी लाख हाथी; ९६ हजार रानियाँ और छियानवें करोड़ पैदल—इत्यादि छह खण्ड की विभूति का संयोग था; तथापि अंतरस्वभाव में भान था कि यह कुछ मेरा स्वरूप नहीं है; यह सब पुण्य का ठाठ है; इसमें कहीं भी मेरे आत्मा का सुख नहीं है। भगवान को जन्म से ही ऐसा आत्मज्ञान था। पूर्वभवों में आत्मज्ञान प्राप्त करके उन्होंने दर्शनमोह का नाश किया था; परन्तु अभी राग शेष था—उस भूमिका में जो पुण्यबंध हुआ, उसके फलस्वरूप बाह्य में चक्रवर्ती आदि पदों का संयोग प्राप्त हुआ। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा के बल से भव, तन और भोगों से उदासीनता तो पूर्व से ही उनके थी। मैं चैतन्यमूर्ति और अभोगी हूँ; भव, तन या भोग मैं नहीं हूँ; मैं तो भवरहित सिद्धसमान हूँ और भोगरहित असंयोगी हूँ; क्षणिक विकार या शरीरादि वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसे आत्मस्वभाव के भानसहित भगवान अवतरित हुए थे। जबतक चक्रवर्ती पद पर थे, तबतक अस्थिरता के राग-द्वेष होते थे परन्तु उन्हें उनकी भावना नहीं थी; भावना तो आनंदमूर्ति आत्मस्वभाव की ही थी।

भगवान को वैराग्य

—ऐसे आत्मज्ञानी शांतिनाथ भगवान, चक्रवर्ती पद पर थे, तब एक बार दर्पण में अपना मुँह देख रहे थे; उस समय दर्पण में एक ही साथ अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई दिये। उनमें उनके पूर्वभव का प्रतिबिम्ब दिखाई दिया था। उसे देखते ही वे आश्चर्य से विचार में पड़ गये और उन्हें अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया। पूर्वभवों का स्मरण होते ही उन्हें संसार के प्रति अतिशय वैराग्य उत्पन्न हुआ और अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिंतवन करने लगे। अहो! मेरा आत्मा शाश्वत चैतन्यघन अशरीरी है, भोगरहित है, भवरहित है; आनंदमूर्ति चैतन्य ही मेरा

स्थायी शरीर है।—अहो!! ऐसे आत्मा का भान होने पर भी उसमें लीनता के बिना पूर्ण शांति नहीं है। भोगों में मेरा सुख नहीं है और भोग का राग मेरे स्वरूप में नहीं है; उस राग का छेदन करके चैतन्य के आनन्द में निमग्न होऊँ, वह मेरा स्वरूप है। अहो! अब मैं मुनि होकर ऐसी दशा प्रगट करूँगा।—इसप्रकार भगवान भगवती दीक्षा की भावना भाते थे।

जब भगवान वैराग्य भावना का चिंतवन कर रहे थे कि तुरन्त लौकान्तिक देव आये; उन्होंने आकर भगवान की स्तुति की तथा उनके वैराग्य की प्रशंसा करके पुष्टि की। पश्चात् इन्द्र और देवों ने आकर भगवान के दीक्षा कल्याणक का महोत्सव मनाया और भगवान स्वयं दीक्षित हुए।

वैराग्य होने के पश्चात् तीर्थंकर भगवान तुरन्त ही दीक्षा धारण करते हैं। वैराग्य होने के पश्चात् भी भगवान अधिक काल तक गृहवास में रहें अथवा तो वर्षीदान देने के लिये एक वर्ष तक रुके रहें—ऐसा नहीं होता। वैराग्य होने के पश्चात् भी भगवान अधिक काल तक गृहवास में रुकते हैं—ऐसा जो मानते हैं, उन्होंने भगवान के उत्कृष्ट वैराग्य को नहीं पहिचाना है। जिसप्रकार श्मशान में गये हुए मुर्दे वापिस घर नहीं आते, उसीप्रकार वैराग्य लेने के पश्चात् तीर्थंकर भगवन्त गृहवास में नहीं रुकते; क्योंकि मोह का नाश हो गया है।

भगवान के वैराग्य की छाया

शांतिनाथ भगवान के छह खण्ड का राज्य और छियानवें हजार रानियों का संयोग होने पर भी पानी में स्थित कमल की भाँति भीतर चैतन्य की दृष्टि में कहीं उसका स्पर्श भी नहीं होने दिया था। रानियों के हृदय भी चमक उठते थे कि क्या पता यह किस क्षण वैराग्य लेकर वन में चले जायेंगे! वन में विचरनेवाले एकाकी सिंह की भाँति भगवान एकत्व भावना भाकर यह सब छोड़कर क्या पता कब वन में चले जायेंगे!!—ऐसी भगवान के वैराग्य की छाया रानियों के हृदय में छा गई थी।

चक्रवर्तीरूप से हजारों रानियों के संग में रहने पर भी भगवान को उसमें कहीं सुखबुद्धि नहीं थी; अंतर में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का अंशतः अनुभव था, इसलिये अंतर में उन सब से उदास-उदास थे। रानियों के हृदय में भी निर्णय हो गया था कि "यह भोगी नहीं हैं परन्तु संसार में रहनेवाले योगी हैं; हमारे ऊपर का राग क्षणभर में छोड़कर चाहे जब निकल पड़ेंगे। उनकी रुचि का जोर स्वभाव में है; विषयभोगों में कहीं उनकी रुचि नहीं है। हमारे कारण उन्हें राग नहीं होता; निमित्त के कारण राग होता है—ऐसा वे नहीं मानते; पर्याय की अशक्ति से राग होता है, परन्तु

इन्द्रियों के भोगरहित अतीन्द्रियस्वभाव के आनंद में लीन होकर उसका उपभोग करने की वे बारम्बार भावना भाते हैं। इसलिये स्वभाव की सबलता के बल से इस निर्बलता का राग तोड़कर, क्षणभर में यह सब छोड़कर चले जायेंगे।''

अहो! आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद जिन्होंने चखा है—ऐसे ज्ञानीजन इन्द्रिय-विषयों में सुख मानकर उनमें मग्न रहें—ऐसा कभी नहीं होता; ज्ञानी को आत्मा के आनंद के निकट विषय एकदम तुच्छ भासित होते हैं;इसलिये विषयों की ओर से उन्हें सहज ही उदासीनता हो जाती है।

भगवान की भावना

मैं असंयोगी चैतन्यमूर्ति हूँ; एक परमाणु से लेकर छह खण्ड की ऋद्धि—वह सब अचेतन का स्वभाव है; उसमें कहीं भी मेरा सुख नहीं है और मेरे चैतन्यस्वभाव में वे कोई तीन काल-तीन लोक में नहीं हैं;—ऐसा भिन्नत्व का भान तो भगवान को पहले से ही था। ऐसे भानसहित भगवान अंतर में भावना भाते थे कि—'रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो...'

जिसे अभी जड़-चेतन के भिन्नत्व का भान न हो, उसे तो पर से भिन्न चैतन्य की भावना ही कहाँ से होगी? भगवान को भिन्नता का भान तो था, तथापि अल्पराग के कारण पर की ओर वृत्ति जाती थी; उन पर की ओर के भावों से विमुख होकर चैतन्य में लीन होने के लिये भगवान वैराग्य-भावना भाते थे....

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे;
क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो;
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्षण छेदीने,
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथजो।

×××

जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता,
भव मोक्षेपण शुद्ध वर्ते समभाव जो।

अहो, आत्मा के आनंद में ऐसी लीनता हो जाये कि ''भव दूर करूँ और मोक्ष प्राप्त करूँ''—ऐसी राग की वृत्ति भी न उठे, ऐसी धन्यदशा कब आयेगी?

—यह भावना कौन भाता है?

चक्रवर्ती राज्य में विद्यमान शांतिनाथ भगवान यह भावना भाते हैं, गृहस्थपने में भी सम्यक् आत्मभान के बल से भगवान को आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त अन्य सर्व भावों में से रुचि तो उड़ गई थी, और पूर्ण उदासीनता के लिए—सर्वसंग पत्यिागी मुनिदशा के लिये वे भावना भाते थे... कैसी मुनिदशा... ? कि—

''सर्वभावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव होय जो!''

अन्तर में तीन कषायों के अभावरूप वीतराग भाव प्रगट हुआ हो और बाह्य में भी सर्व संग परित्यागी दिगम्बर दशा हो गई हो—ऐसी स्थिति के बिना छट्ठे गुणस्थान का मुनिपना जैनशासन में कभी नहीं होता।

धन्य उनका अवतार....

मुनि होने से पूर्व संसार में रहे, परन्तु शांतिनाथ भगवान सम्यग्दर्शन और मति-श्रुत-अवधि इन तीन ज्ञान के धारक थे; दर्पण में दो प्रतिबिम्ब देखकर उन्हें जाति-स्मरण ज्ञान हुआ और पूर्वभवों का स्मरण होने से वैराग्य जागृत हुआ। वैराग्य होने से वे दीक्षा के लिये ऐसी भावना भाने लगे कि अहो! इससे पहले भव में मैं सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र देव था और उससे पहले के भव में मुनि था; उस समय मेरी अनुभवदशा अपूर्ण रह गई और राग शेष रहा, इसलिये यह अवतार हुआ। अब उस राग का छेदन करके इसी भव में मैं अपनी मुक्तदशा प्रगट करनेवाला हूँ। सांसारिक भोगों के लिये मेरा अवतार नहीं हुआ, परन्तु आत्मा के मोक्ष के हेतु मेरा अवतार हुआ है, मैं भगवान होने के लिये अवतरित हुआ हूँ... इस संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर असंसारी, अशरीरी और अभोगी—ऐसे अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव में लीन होकर, वन-जंगल में चैतन्य के आनंद की मस्ती में झूलने के लिये मेरा अवतार है।—इसप्रकार भगवान संसार से विरक्त होकर आत्मा के आनन्द के मार्ग पर चढ़ गये।

''अहो! धन्य उनका अवतार....!''

मुनिदशा का स्वरूप

समस्त तीर्थंकर भगवन्त वैराग्य होने पर अंतर-बाह्य निर्ग्रंथदशारूप मुनित्व धारण करते

हैं। जैन-शासन अर्थात् वस्तु के सनातन स्वभाव में दिगम्बर जिनमुद्रा के बिना मुनिपना नहीं होता। मुनि को शरीर पर कोई भी वस्त्र नहीं होता, आहार के लिये पात्र नहीं होता; पानी पीने के लिये कमंडल नहीं होता; मात्र देह की अशुचि साफ करने के लिये कमण्डल होता है। परंतु, तीर्थंकर भगवान का शरीर तो जन्म से ही स्वभावतः अशुचिरहित होता है, इसलिये उनके तो कमण्डल भी नहीं होता। मुनिदशा में आत्मा की परिणति ही इतनी अधिक वीतरागी हो जाती है कि शरीर के रक्षण के लिये वस्त्रादि बाह्य पदार्थों के ग्रहण की वृत्ति ही नहीं उठती। इस वीतराग-परिणति के बिना छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलती हुई मुनिदशा नहीं होती।

धन्य वह मुनिदशा!

अहो, धन्य वह मुनिदशा! मुनि कहते हैं कि हम तो चिदानंदस्वभाव में झूलनेवाले हैं; हमने इन सांसारिक भोगों के लिये अवतार नहीं लिया है। मुनिदशा में निर्ममत्वरूप से एकमात्र शरीर ही होता है, क्योंकि शरीर हठपूर्वक नहीं छोड़ा जाता। दिन में एक ही बार निर्दोष आहार की वृत्ति उठती है। वास्तव में तो संसारत्याग करते समय मुनि ने जो निश्चय-प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा की, उसमें निर्दोष आहार की वृत्ति का भी प्रत्याख्यान किया था; पंचमहाव्रत की शुभवृत्ति भी न करके मात्र चैतन्य के अनुभव में लीन होना—ऐसी ही भावना थी; परन्तु बाद में आहारादि की शुभवृत्ति उठने से मुनि विचार करते हैं कि—अरे, मेरे निश्चय प्रत्याख्यान में भंग पड़ा! अप्रमत्तरूप से आत्मअनुभव में स्थिर होने की भावना थी और विकल्प का प्रत्याख्यान किया था;—इसप्रकार पूर्णदशा की ही भावना थी; परन्तु अप्रमत्तरूप से आत्मा में स्थिर नहीं रहा गया और आहार की वृत्ति उठी, उतने अंशतक मेरे निश्चयप्रत्याख्यान में भंग पड़ा; इसलिये मैं उसका प्रतिक्रमण करके निश्चयप्रत्याख्यान की संधि जोड़े देता हूँ। देखो, यह दिगम्बर संतों की उग्र वाणी! इन संतों की वाणी में वीतरागता भरी है। श्री जयधवलाकार कहते हैं कि—संत तो स्वरूप में स्थिर होने के ही कामी थे—उनके निश्चय-प्रत्याख्यान की ही प्रतिज्ञा थी; तथापि स्वरूप में पूर्णतया स्थिर नहीं रहा जा सका, इसलिये यह आहारादि की वृत्ति उठी; उसे संत दोषरूप समझते हैं। पंचमहाव्रत के शुभ विकल्प भी पुण्यास्रव हैं; वे विकल्प करने की मुनि की भावना नहीं है; तथापि वह वृत्ति उठती है तो उसे निश्चय प्रत्याख्यान में दोषरूप जानकर छोड़ देते हैं—उसका प्रतिक्रमण करके पुनः निर्विकल्परूप से स्वरूप में स्थिर होते हैं।—ऐसी संत-मुनियों की दशा होती है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा चैतन्यसुखरूप में स्थिर न हुए हों, उस समय भी उनके सर्व भावों से

उदासीनता तो होती ही है; फिर चैतन्य में स्थिर होने का अवसर आने से बाह्य-अभ्यंतर सर्व परिग्रह छूट जाता है; मात्र देह का संयोग रहता है, परन्तु तत्सम्बन्धी मूर्च्छा नहीं रहती और देह की दशा सहज दिगम्बर होती है। चौदह ब्रह्माण्ड के मुनियों की दशा सदैव ऐसी ही होती है, वस्त्र या पात्र के परिग्रह की वृत्ति उनके कभी नहीं होती। छट्ठे-सातवें गुणस्थान की भूमिका का ऐसा स्वभाव है। यही अनंत तीर्थंकर-संतों ने स्वयं पाला हुआ और कहा हुआ मुक्ति का राजमार्ग है। ऐसे मुक्ति के राजमार्ग पर चलने के लिये श्री शांतिनाथ भगवान आज तत्पर हुए हैं।

तीर्थंकरों के पथ पर

अनंत तीर्थंकर जिस पथ पर विचरे उसका मैं पथिक बनता हूँ; मेरे पुरुषार्थ में बीच में भंग नहीं पड़ेगा, मैं अप्रतिहत पुरुषार्थवाला हूँ। भगवान शांतिनाथ प्रभु कहते हैं कि मैं अब अपने आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होता हूँ... अंतर की चैतन्य गुफा में गहराई तक उतरकर निर्विकल्प स्वभाव के गीत गाने के लिये और वह प्रगट करने के लिये मैं तैयार हुआ हूँ... अब अपने स्वरूप में स्थिर होने का अवसर आया है। अंतर के आनंदकंद स्वभाव की श्रद्धा सहित उसमें रमणता करने के लिये जागृत हुआ हूँ; उस भाव में अब भंग नहीं पड़ेगा... जागृत हुए भाव को मैं विमुख नहीं होने दूँगा... अखण्ड आनन्द स्वभाव की भावना के अतिरिक्त पुण्य-पाप की भावना का भाव अब मुझे कभी नहीं आयेगा।

अनादि प्रवाह में मुझ जैसे अनंत तीर्थंकर हो चुके हैं; उन्हीं के कुल और जाति का मैं हूँ। क्षत्रिय आदि जो कुल हैं, वे वास्तव में आत्मा के कुल नहीं हैं। तीर्थंकर आत्मा के चैतन्यकुल में अवतरित हुए हैं और वही उनका सच्चा कुल है। अहो, एक चिदानन्दी भगवान के अतिरिक्त किसी भाव को मनमंदिर में नहीं लाऊँगा; एक चैतन्यदेव को ही ध्येयरूप बनाकर उसके ध्यान की लीनता से आनंदकंद स्वभाव की रमणता में मैं कब पूर्ण होऊँ! बीच में भंग पड़े बिना अकेले चैतन्यस्वभाव का ही आश्रय करके केवलज्ञान प्रगट करना, वह हमारे—तीर्थंकरों के कुल की टेक है। तीर्थंकर उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके रहते हैं। अनंत तीर्थंकर आत्मा का वीतरागी चारित्र पूर्ण करके उसी भव में केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त हुए। जिस पथ पर अनंत तीर्थंकर विचरे, उसी पथ के पथिक हम भी हैं। मैं चिदानन्द नित्य हूँ और सारा संसार अनित्य है; मेरा आनंदकंद ध्रुव स्वभाव ही मुझे शरणभूत है; जगत में अन्य कुछ मुझे शरणभूत नहीं है।—ऐसी भावना भाकर भगवान ने दीक्षा ली।

धन्य वह अवसर... धन्य वह भावना....

अहो! जब साक्षात् तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेते होंगे, वह काल कैसा होगा! और वह प्रसंग कैसा होगा! भगवान की दीक्षा के समय चारों ओर वैराग्य की छाया छा जाती है, और अनेक राजा भी भगवान के साथ दीक्षित हो जाते हैं। अहा! धन्य वह अवसर! जीव को आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना भी अनंतकाल में दुर्लभ है। श्री नियमसार में कहा है कि—

मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः जीवेन पूर्व्वं भाविताः सुचिरम्।
सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः अभाविता भवन्ति जीवेन॥९०॥

—इसलिये इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना भाने योग्य है।

संसार की स्थिति और धर्मात्मा की निःशंकता

इस संसार में अज्ञानीरूप में भटकते हुए पूर्वभव की माता का तूने अनंतबार स्त्रीरूप से उपभोग किया—अरे जीव! तूने स्वर्ग-नरक और कीड़े-कुत्ते के अनंत भव किये; संसार में परिभ्रमण करते हुए एक भव में जो तेरी माता थी, वही दूसरे भव में तेरी स्त्री हुई; एक भव में तेरी स्त्री थी, वही दूसरे भव में तेरी माता हुई; एक भव में जो तेरा भाई था, वही दूसरे भव में तेरा शत्रु हुआ.... अहो! धिक्कार ऐसे संसार को... ऐसा संसार अब हमें स्वप्न में भी नहीं चाहिए। धिक्कार है इस संसारभाव को कि जिसमें, जिसके पेट में सवा नौ महीने तक रहकर मातारूप से स्वीकार किया हो, उसी का दूसरे भव में स्त्रीरूप से उपभोग करना पड़े... अरे! यह संसार! अनंतकाल तक आत्मा के भान बिना ऐसे संसार में परिभ्रमण किया... अब इस संसार में हम पुनः अवतार नहीं लेंगे। हम आत्मभान सहित तो अवतरित हुए ही हैं और अब इस भव में केवलज्ञान प्रगट करके मुक्त हो जायेंगे... अब पुनः इस संसार में नया शरीर धारण नहीं करेंगे...

देखो तो, यह धर्मात्मा की निःशंकता! भगवान शांतिनाथ प्रभु कहते हैं कि इस संसार के राग को छोड़कर आज हम अपने चारित्रधर्म का अंगीकार करेंगे... और इसी भव में पूर्ण परमात्मा होंगे... अब हम दूसरा भव धारण नहीं करेंगे। अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव जिसे कभी प्राप्त नहीं कर सका, ऐसी एक मुक्तिदशा ही है उसे अब हम प्राप्त करेंगे।

देखो, अंतर में चैतन्यस्वभाव की ओर के बलपूर्वक यह भावना भाते हैं। सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त दूसरों को तो, तीर्थंकर भगवान ने कैसी भावना भायी थी, उस भावना का स्वरूप समझना भी कठिन है; फिर उनके सच्ची भावना कैसे हो सकती है? चैतन्यस्वरूप की ओर उन्मुखता के

बल में शांतिनाथ भगवान भव-तन-भोग से उदास-उदास हो गये हैं; जैसे श्मशान जाने की तैयारी वाले मुर्दे की शोभा, अर्थात् श्मशान में जाने की तैयारी वाले मुर्दे को कोई फूल-हार इत्यादि से शृंगार करे तो उससे कहीं मुर्दा प्रसन्न नहीं होता और जलाने से उसे दुःख नहीं होता, क्योंकि भीतर जो मोह करनेवाला था, वह चला गया है। उसीप्रकार भगवान का आत्मा सारे संसार से उदासीन हो गया है; उसे किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है क्योंकि अंतर के मोह की मृत्यु हो गई है। हमारे चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद के निकट हमें पुण्य-पाप या शरीर-भोग अच्छे नहीं लगते; जागृत चैतन्य की सत्ता के निकट यह सब मुर्दे की शोभा के समान दिखाई देते हैं।—इसप्रकार भानसहित वैराग्य धारण करके शांतिनाथ भगवान ने चारित्र दशा अंगीकार की।

—उस चारित्रदशा का वर्णन और मुनिपद की महिमा बतलाने के लिये इस प्रवचन का शेष भाग इसके बाद दिया जायेगा।

आत्मा की.... अद्भुत.... शोभा

अनादिकाल से अपने आत्मा की त्रिकाली शोभा को भूलकर और पर से अपनी शोभा मानकर जीव संसार में भटक रहा है। उसे आचार्यदेव आत्मा की शोभा बतलाते हैं कि—अरे जीव! सुन्दर शरीरादि जड़ में तो तेरी शोभा नहीं है, और जीव संसार में भटका—ऐसी बंधन की बात करने में भी तेरी शोभा नहीं है; तेरा आत्मा सदैव अपने एकत्व शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित है, उसी में तेरी त्रिकाली शोभा है, और उसे पहिचान लेने से पर्याय में शोभा प्रगट होती है।

लोग बाह्य प्रतिष्ठा और शोभा से अपना बड़प्पन मानते हैं, परन्तु वह मिथ्या है; अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा द्वारा ही आत्मा की शोभा और महिमा है।—ऐसा समझने से पर्याय भी अन्तर्मुख

होकर निर्मलरूप से शोभायमान हो उठती है। इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य में—पैसे से, शरीर से, वस्त्रों या गहनों से, अरे! पुण्य से भी आत्मा की शोभा मानना, वह सच्ची शोभा नहीं है किन्तु कलंक है। स्वरूप में प्रतिष्ठित ऐसा आत्मा स्वयं शोभायमान है, किसी दूसरे से उसकी शोभा नहीं है। आत्मा परमात्मा बन जाये, उसके समान कौन सी शोभा होगी? और जिस में से अनंतकाल तक परमात्मदशा प्रगट होती रहे—उस द्रव्यसामर्थ्य की शोभा की तो क्या बात!!

महान शोभा तो त्रिकाली द्रव्य में है; उसी के आधार से पर्याय में शोभा प्रगट हो जाती है। सिद्धदशा तो पर्याय की शोभा है, वह एकसमय पर्यंत की है, और द्रव्य की शोभा त्रिकाल है। पर्याय की शोभा कब प्रगट होती है?—जब त्रिकाल शोभायमान द्रव्य की ओर दृष्टि करे तब! जो ऐसा समझ ले उसकी वृत्ति अंतर में द्रव्यस्वभावोन्मुख हो जाती है; वह बाह्य में पर से अपनी शोभा नहीं मानता; इसलिये उसकी दृष्टि में पर के प्रति वीतरागभाव हो जाता है।—इसप्रकार धर्म होता है।

भगवान आत्मा अपने एकरूप स्वरूप में प्रतिष्ठा से त्रिकाल महिमावंतरूप से शोभायमान है, ऐसे शोभायमान द्रव्य का आश्रय लेने से पर्याय में वीतरागी शोभा प्रगट हो जाती है। परन्तु उस पर्याय पर दृष्टि नहीं है, क्योंकि वह पर्याय स्वयं आत्मोन्मुख होकर त्रिकाली द्रव्य की शोभा में समा गई है।

चैतन्यद्रव्य की शोभा की अपार महिमा है... अहो! उसकी महिमा से जिसे सम्यग्दर्शन हुआ—सम्यग्ज्ञान हुआ, वह धर्मात्मा अकेली पर्याय की शोभा में सर्वस्व अर्पण नहीं कर देता, परन्तु द्रव्य-गुण की महान शोभा को भी साथ ही साथ रखता है। अपूर्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए, किन्तु वे हुए कहाँ से?—त्रिकाली द्रव्य में सामर्थ्य था, उस में से हुए हैं; इसलिए उस त्रिकाली सामर्थ्य का अपार माहात्म्य है। अज्ञानी जीव अकेली पर्याय की महिमा में ही रुक जाते हैं, द्रव्य की ध्रुव महिमा की उन्हें खबर नहीं है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! अपने त्रिकाली स्वरूप से ही तेरी शोभा है—ऐसा हमने बतलाया; उसे समझकर तू अकेली पर्याय के बहुमान में न रुककर त्रिकाली द्रव्य का बहुमान कर। —ऐसा करने से द्रव्यदृष्टि में सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें सहज ही प्रगट हो जाएँगी और पर्याय में भी तेरा आत्मा शोभायमान हो उठेगा। जय हो... चैतन्य की अद्भुत शोभा की....!

(—प्रवचन से)

इस वचनामृत का पान करो....

❀ आत्मा का स्वरूप समझने के लिये उसकी बात बारम्बार सुनने में अरुचि नहीं आना चाहिए, किन्तु उसकी महिमा होनी चाहिए।

❀ आत्मा को समझकर उसी की महिमा में एकाग्र होना, वह सुख का उपाय है।

❀ ज्ञानी के निकट बारम्बार प्रेम से आत्मा का वास्तविक स्वरूप सुनने और बारम्बार परिचय करने से ही वह समझ में आयेगा—ऐसा विश्वास प्रगट करना चाहिए।

❀ जीव अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में ले, तभी से उसके मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है।

❀ सूक्ष्म और यथार्थ तत्त्व को समझने के लिये अत्यन्त तीव्र और सत्पुरुषार्थ होना चाहिए।

❀ मिथ्यादृष्टि का विषय 'पर' है, सम्यग्दृष्टि का विषय 'स्व' है।

❀ अहो! सर्वज्ञदेव और वीतराग जैसे निर्ग्रंथ मुनि जिस शिष्य पर कृपा करके उत्तम बोध प्रदान करें, उस शिष्य की पात्रता कितनी होगी? परन्तु ''हीरा मुख से ना कहें लाख हमारो मोल।''

❀ समयसारजी शास्त्र सर्वज्ञ-तीर्थंकर भगवान का पेट है; आचार्यदेव ने उसमें निजवैभव से आत्मस्वभाव दर्शाया है।

❀ आत्मा अनंतकाल में जिस अपूर्व वस्तु को नहीं समझा, उसे समझने के लिए पात्रता और अपूर्व प्रयत्न की आवश्यकता पड़ेगी।

❀ जिसके धन्यभाग्य हों, उसे यह परमार्थ तत्त्व का श्रवण प्राप्त होता है, और जो अपूर्व पात्रता से आत्मपुरुषार्थ करे, उसे उसके अनुभव की प्राप्ति होती है।

[— प्रवचन से]

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[१२]

प्रकाशशक्ति

[गतांक से आगे]

(१) आत्मा की प्रकाशशक्ति किसी पर के आश्रय से विद्यमान नहीं है, इसलिये परसन्मुख देखने से उस शक्ति की प्रतीति नहीं होती।

(२) आत्मा की प्रकाशशक्ति विकार के आश्रय से विद्यमान नहीं है, इसलिये विकारसन्मुख देखने से भी उसकी प्रतीति नहीं होती।

(३) आत्मा की प्रकाशशक्ति त्रिकाल है, वह क्षणिक पर्याय के आश्रय से विद्यमान नहीं है, इसलिये पर्यायसन्मुख देखने से भी उसकी प्रतीति नहीं होती।

(४) आत्मा में एक प्रकाशशक्ति पृथक् विद्यमान नहीं है, इसलिये अनंत शक्ति के पिण्ड में से एक शक्ति का भेद करके लक्ष में लेने से भी उसकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

(५) आत्मा अनंत धर्म का पिण्ड है, उसी के आश्रय से यह प्रकाशशक्ति विद्यमान है; इसलिये उस अभेद आत्मा के सन्मुख देखने से ही इस शक्ति की यथार्थ स्वीकृति होती है। जहाँ अभेद आत्मा की दृष्टि हुई, वहाँ एकसाथ अनंत शक्तियाँ प्रतीति में आ गईं।

निमित्तादि परवस्तुएँ तो आत्मा में कभी एक क्षण भी व्याप्त नहीं होतीं, विकार और परोक्षपना एक समय पर्यंत की पर्याय में ही व्यापक हैं; त्रिकाली आत्मा में वे व्यापक नहीं हैं; और यह प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरूप प्रकाशशक्ति तो आत्मा में त्रिकाल व्यापक है; सम्पूर्ण आत्मा के समस्त गुण-पर्यायों में वह व्यापक है। जिसने आत्मा की ऐसी स्वयंप्रकाशशक्ति को स्वीकार किया, उसके पर्याय में परोक्षज्ञान होने पर भी उसका आदर नहीं रहा, परन्तु त्रिकाली स्वभाव का ही आदर रहा;

उसी के आश्रय से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र और मोक्षदशा होती है। यहाँ तो, आत्मा स्वयंप्रकाशमान स्पष्ट स्वानुभवरूप है—इसप्रकार अस्ति से बात की, परन्तु परोक्षपना नहीं है—इसप्रकार नास्ति की बात नहीं की। निश्चय की अस्ति के अवलम्बन में व्यवहार का निषेध आ ही गया।

अज्ञानी कहते हैं कि "निमित्त और व्यवहार के आश्रय से धर्म होने को आप अस्वीकार करते हैं, तो क्या निमित्त नहीं है ? व्यवहार नहीं है ?"—ऐसा कहकर वे निमित्त और व्यवहार के आश्रय से लाभ मनाना चाहते हैं। परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! निमित्त और व्यवहार नहीं है—ऐसा किसने कहा ?—परन्तु उनके आश्रय से लाभ होता है—ऐसी बात कहाँ से लाया ? जगत में तो सब है; निमित्त है-उससे क्या ?—क्या उसके आश्रय से आत्मा को ज्ञान होता है ? व्यवहार का राग और विकल्प है, उससे क्या ?—क्या उसके द्वारा सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र होते हैं ? ऐसा कभी नहीं होता। जीव को संसार है; लेकिन क्या वह संसार है, इसलिये आत्मा की मुक्ति होती है ? जैसे संसार है, परन्तु वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है; उसी प्रकार निमित्त और व्यवहार हैं, परन्तु वे कहीं धर्म के कारण नहीं हैं, संसार का नाश होने से मोक्षदशा प्रगट होती है, उसी प्रकार निमित्त और व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर परमार्थरूप आत्मद्रव्य का अवलम्बन करने से धर्म होता है। देखो, इसमें व्यवहार और निमित्त की स्थापना होती है या उत्थापना ? व्यवहार और निमित्त हैं; इसप्रकार उनकी स्थापना होती है, परन्तु उन निमित्त या व्यवहार के आश्रय से किसी भी प्रकार धर्म होता है—इस बात की उत्थापना होती है। जो निमित्त या व्यवहार का अवलम्बन करते-करते धर्म होना मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं—ऐसा निश्चय जानना और स्वयं ऐसी मान्यता छोड़कर शुद्ध स्वभाव की रुचि तथा अवलम्बन करना, वह कल्याण का उपाय है।

अहो! आचार्यदेव ने एक-एक शक्ति के वर्णन में पूर्ण भगवान को बतला दिया है। दिव्यध्वनि का सार, बारह अंगों का सार शुद्ध आत्मा है। ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्य की प्रतीति, वह धर्म का प्रथम सोपान है; वही मुक्ति की प्रथम सीढ़ी है। पहले अपने शुद्ध आत्मद्रव्य का आश्रय किए बिना सम्यक् प्रतीति नहीं होती; और सम्यक् प्रतीति के बिना अपने को व्रत प्रतिमा या मुनित्व का मानना, वह तो अरण्य-रुदन के समान है; उसे कौन सुनेगा ? आत्मसन्मुख होकर उसकी प्रतीति किये बिना अंतर से आत्मा उत्तर नहीं देता।

देखो, यह किसका वर्णन चल रहा है ? यह किसी बाह्य वस्तु का वर्णन नहीं है, परन्तु अंतर में अपनी चैतन्यवस्तु अनंत गुणों से परिपूर्ण है—उसकी आचार्यदेव पहिचान कराते हैं। तेरे आत्मा में प्रकाशशक्ति ऐसी है कि जो स्वयंप्रकाशमान हैं; लोकालोक को स्पष्ट जाने ऐसा उसका सामर्थ्य; और वह अपने आत्मा के स्वसंवेदनमय है। अपने को स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष जानती है और पर की भी प्रत्यक्ष जानती है। पर से आत्मा पृथक् है, इसलिये पर का प्रत्यक्षज्ञान न हो—ऐसा नहीं है; पर से भिन्न होने पर भी पर को भी स्पष्ट-प्रत्यक्ष जानता है—ऐसा आत्मा का प्रकाश-स्वभाव है। प्रत्यक्षपना कहीं पर में नहीं रहता; प्रत्यक्षपना तो ज्ञान में है। कोई ऐसा कहे कि ''आत्मा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता;''—तो ऐसा कहनेवाले ने चैतन्यतत्त्व को अंध माना है अर्थात् उसने चैतन्यतत्त्व को नहीं जाना है। चैतन्यतत्त्व अंध नहीं है कि उसे स्वयं अपना अनुभव करने के लिये किसी पर की सहायता की आवश्यकता हो !—वह तो ऐसा स्पष्ट प्रकाशमान है कि स्वयं ही अपना प्रत्यक्ष स्वानुभव करता है।

कोई कहे कि आत्मा का पूर्ण-प्रत्यक्ष अनुभव तो केवली को होता है; निचलीदशा में नहीं होता। तो उसका समाधान :—यहाँ वस्तु के स्वभाव की बात है; वस्तु तो त्रिकाली केवली ही है। यदि वस्तु में पूर्ण-प्रत्यक्ष केवलज्ञान-सामर्थ्य न हो तो वह आयेगा कहाँ से ? और जहाँ ऐसी वस्तु की प्रतीति हुई, वहाँ स्वयं को अपनी मुक्ति की भी नि:शंक खबर हो जाती है। आत्मा का स्वभाव स्वयं प्रकाशमान है। इसलिये उसे स्वयं अपनी खबर पड़ती है। ''हमारी मुक्ति कौन जाने कब होगी !—इसकी हमें कोई खबर नहीं पड़ती; अथवा तो आत्मा में कितनी शुद्धता हुई और कितनी अशुद्धता दूर हुई —उसकी भी हमें खबर नहीं पड़ती''—ऐसा जो मानता है, उसने स्वयंप्रकाशमान आत्मा को जाना ही नहीं। स्वयं को अपनी खबर न पड़े—ऐसी बात आत्मा में है ही नहीं। अपने अपूर्व स्वानुभव के वेदन का प्रकाश स्वयं अपनी प्रकाशशक्ति ही करती है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा के अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हो और उसकी अपने को खबर न पड़े—ऐसा हो ही नहीं सकता, क्योंकि आत्मा स्वयं ही स्वप्रकाशक है। आत्मा अपने प्रत्यक्ष अनुभव से प्रकाशमान है; मात्र अनुमान से परोक्ष जाने कि ''आत्मा ऐसा होना चाहिए''—तो वह ज्ञान यथार्थ नहीं है। आत्मा अकेले परोक्षज्ञान से प्रकाशित नहीं होता परन्तु स्पष्ट प्रगटरूप से अपने स्वसंवेदन की साक्षी लाता हुआ स्वयं अपने से ही प्रकाशमान है, अन्य किसी की साक्षी लेने नहीं जाना पड़ता। अपने स्वभाव का परिणमन हुआ, अपने को स्वभाव का वेदन हुआ—उसे प्रगटरूप से

प्रकाशित करने की शक्ति आत्मा में त्रिकाल है। कोई कहे कि हमें अपनी खबर नहीं पड़ती। तो उससे कहते हैं अरे मूर्ख! तुझे अपनी खबर नहीं पड़ती!! तू चेतन है या जड़? जड़ को अपनी खबर नहीं पड़ती, परन्तु चेतन में तो स्वयं को और पर को जानने की परिपूर्ण शक्ति है। भाई! तू अपनी पूर्ण शक्ति को पहिचान।

स्वयं अपने से अजान रहे—ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है; "न जानना"— ऐसी शक्ति ही आत्मवस्तु में नहीं है। "मैं अपने को ज्ञात नहीं हो सकता"—यह तो अज्ञान से खड़ी की हुई कल्पना है। आत्मा चैतन्यप्रकाशी प्रभु है; वह स्वयं अपने को यथार्थरूप से जान सकता है; स्वयं अपना साक्षात् अनुभव कर सकता है; उसमें शास्त्र से, भगवान से पूछने नहीं जाना पड़ता। शास्त्र में आत्मा का चाहे जितना वर्णन किया हो, परन्तु उस शास्त्र का मर्म जानेगा कौन? जाननेवाला तो आत्मा ही है न! इसलिये आत्मा स्वयं अपने से ही प्रकाशमान है।

कोई कोई जीव ऐसी शंका करते हैं कि अपने को अपनी खबर नहीं पड़ती, भगवान ने ज्ञान में देखा हो सो सच्चा! परन्तु भाई! तेरे ज्ञान में संदेह का वेदन होता होगा तो भगवान तद्नुसार जानेंगे, और तू अपना अनुभव प्रगट करके निःशंकता प्रगट कर तो भगवान वैसा जानेंगे। जैसी वस्तुस्थिति हो, वैसी ही भगवान जानेंगे न? और "भगवान ने ज्ञान में देखा हो सो सच्चा!"—ऐसा कहा, वहाँ भगवान के ज्ञान का निर्णय तो तूने किया न?—तो, जो भगवान के ज्ञान का निर्णय करता है, वह स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय क्यों नहीं कर सकेगा? जो जीव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मा का अनुभव करता है, उसे अपने अनुभव की निःशंक प्रतीति होती है।

अज्ञानी को आत्मा की रुचि नहीं है, इसलिये वह ऐसा कहता है कि हमें आत्मा की खबर नहीं पड़ती। परन्तु भाई! तू आत्मा की रुचि करके उसकी सन्मुखता का बराबर प्रयत्न कर तो आत्मा की खबर पड़े बिना नहीं रहेगी। सांसारिक व्यापार-धंधा, अथवा रसोई इत्यादि के काम में "हमें नहीं आता"—ऐसा नहीं कहते; वहाँ तो "हम जानते हैं"—इस प्रकार अपने ज्ञातृत्व की बुद्धिमानी बतलाते हैं; और यहाँ स्वयं अपने को जानने की बात आये वहाँ इन्कार करते हैं। अरे भाई! विपरीत दृष्टि के कारण तेरे ज्ञान में स्व की नास्ति और पर की अस्ति हो गई है। "सबको कौन जानता है?"—तो कहता है कि मैं। "तो तुझे अपनी खबर नहीं पड़ेगी?" तो कहता है कि ना। वाह रे वाह! आश्चर्य की बात है! "अमुक देश में ऐसे हवाई जहाजों का आविष्कार हुआ है

जो अपने आप चलते हैं; इस लड़ाई में फलाँ देश हार जायेगा''—इसप्रकार वहाँ तो अपनी जानकारी बतलाता है—वहाँ अनजान नहीं बनता। तो हे भाई! ''मेरा आत्मा चैतन्यमूर्ति है, मुझमें ऐसी अनंत शक्तियाँ हैं और उनके आश्रय से अल्पकाल में केवलज्ञान होकर मेरी मुक्ति होगी''—इसप्रकार अपने आत्मा का निर्णय करने की शक्ति तुझमें है या नहीं? जो परपदार्थों को प्रकाशित कर रहा है, उसका अपना स्वयंप्रकाशमान स्वभाव है; इसलिये आत्मा स्वानुभव से अपने को स्पष्ट जाने, ऐसा उसका प्रकाशस्वभाव है। इसलिये आचार्यभगवान कहते हैं कि हे जीव! मुझे अपनी खबर नहीं पड़ती—यह बात हृदय से निकाल दे, और तेरे आत्मा में प्रकाशशक्ति त्रिकाल है, उसका विश्वास कर, उसके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति कर! प्रकाशस्वभावी आत्मा की प्रतीति करने से तुझे अपने आत्मा का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होगा, और अल्पकाल में तेरी मुक्ति होगी!

–आत्मा की अनंत शक्तियों में से प्रकाशशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ। (१२)

—आत्महित के लिये—

संतों की शिक्षा

जगत में दूसरे जीव धर्म प्राप्त करें या न करें, उससे अपने को क्या? अपने को तो अपने आत्मा में देखना है। दूसरे जीव मुक्ति प्राप्त करें, उससे कहीं इस जीव का हित नहीं हो जाता, और दूसरे जीव संसार में भटकते फिरें तो उससे कहीं इस जीव का हित रुकता नहीं है। स्वयं जीव अपने आत्मा को समझे, तब अपना हित होता है; इस प्रकार अपने आत्मा के लिये यह बात है। सत्यतत्त्व तो तीनों काल दुर्लभ है और उसे समझनेवाले जीव भी विरले ही होते हैं; स्वयं समझकर अपने आत्मा का हित साध लेना चाहिए।

(— प्रवचन से)

पोरबन्दर में प्रतिष्ठा-महोत्सव

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी पोरबन्दर पधारे हैं और सुख-शांति में विराज रहे हैं। वहाँ के सेठ श्री नेमीदास खुशालभाई ने एक नूतन जिनमन्दिर का निर्माण कराया है; उसमें मूलनायक पार्श्वनाथ भगवानादि जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा का पंचकल्याणक महोत्सव प्रारम्भ हो गया है। फाल्गुन कृष्णा ४ के दिन पूज्य गुरुदेव पोरबन्दर पधारे, उस समय वहाँ की जनता ने उत्साहपूर्वक उनका स्वागत किया था। प्रतिष्ठा विधि कराने के लिये इन्दौर निवासी श्री पंडित नाथूलालजी आये हैं और फाल्गुन कृष्णा ७ के दिन प्रतिष्ठा-मंडप में जिनेन्द्र भगवान को विराजमान किया है। मंडारोपण के पश्चात् जप प्रारम्भ हो गया है। फाल्गुन कृष्णा ८ से श्री सीमन्धरादि बीस विहरमान भगवन्तों की पूजन प्रारम्भ हुई और फाल्गुन कृष्णा ९ तथा १० तक चलती रही। फाल्गुन कृष्णा ११ के प्रातः काल पूज्य गुरुदेव के प्रवचन के पश्चात् जलयात्रा विधि हुई थी।

पोरबन्दर की जनता पूज्य गुरुदेव के अपूर्व प्रवचनों का लाभ भारी संख्या में ले रही है। पोरबन्दर से विहार करके पूज्य गुरुदेव जामनगर होते हुए मोरबी तथा वांकानेर पधारेंगे। मोरबी के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का मुहूर्त चैत्र शुक्ला २ के दिन है और वांकानेर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का मुहूर्त चैत्र शुक्ला १३ का है।

अतीन्द्रिय चैतन्यतत्त्व का अवलम्बन करने से देहातीतपना तो सहज ही हो जाता है। —पूज्य गुरुदेव

अहो! आत्मद्रव्य के स्वभाव का परम अचिंत्य सामर्थ्य जिसकी प्रतीति में आया, उसके वर्तमान पर्याय में भी अचिंत्य स्वभावसामर्थ्य प्रगट हो जाता है।

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभ-विद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी